शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : भानुभाई मूलजीभाई लाखाणी 卐

अक्टूबर : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, आश्विन, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : ६

धर्मात्मा जीव मिथ्यादृष्टि को

सम्यग्दृष्टि बनाता है

सम्यग्दृष्टि जीव, मिथ्यादृष्टि से कहता है कि—भूल मत, भूल मत! अपनी चिदानंद वस्तु को मत भूल! पर को अपनी वस्तु मत मान! वह तेरी वस्तु नहीं है; इसलिये अपने में शांत हो! —इसप्रकार धर्मात्मा जीव, मिथ्यादृष्टि को अपने शांत रस में लीन कराते हैं; उसका भ्रम मिटाकर, यथार्थ स्वरूप समझाकर, शांतरस में लीन करके, उसे सम्यग्दृष्टि बनाते हैं।

(—समयसार प्रवचन भाग ३ से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१९७]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

गुजराती टू हिन्दी शब्द कोष—

जिसमें पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों समझने में सुगम हो जाये ऐसा संक्षेप में सुन्दर शब्द संग्रह है। मूल्य ०-२५। हमारे साहित्य प्रकाशन विभाग के सूचीपत्र जिसमें पुस्तकों का स्वरूप ख्याल में आ जाये इस ढंग से परिचय है।

दशलक्षण धर्म (प्रवचन)

जिसमें उत्तम क्षमादि धर्मों के ऊपर आध्यात्मिक सुंदर शैली से विवेचन है। निश्चय-व्यवहार धर्म कब और कैसे होता है? यथार्थ भाव भासन पूर्वक आत्मिक शांति, स्वतंत्रता, यथार्थता का स्वाद लेने के लिये इसे अवश्य पढ़िये। पृष्ठ ९५, मूल्य -०.५३।

समयसार प्रवचन भाग १ पृष्ठ ४८८, मूल्य ४.७५

समयसारजी शास्त्र की गाथा १ से १२ ऊपर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का अपूर्व प्रवचन है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा उत्तम ढंग से की गई है। यह अच्छी तरह संशोधित दूसरी आवृत्ति है। थोक लेने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जावेगा। समयसारजी ग्रंथाधिराज है उसमें प्रवेश पाने के लिये समयसारजी के ऊपर किये गये प्रवचन भाग १-२-३ अवश्य पढ़िये।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसारजी मूलग्रन्थ संस्कृत टीका सहित छप रहा है—

सर्वोत्तम सुंदर पद्धति से छपते हैं और अध्यात्म विद्या का सर्वोत्तम और सुगम ग्रंथाधिराज सभी तत्त्व जिज्ञासुओं के हाथ में आवे और लाभ लें, ऐसी भावना से सस्ते में ही दिये जायेंगे, प्रकाशित होने में शायद तीन मास लग जायेंगे। बाद प्रवचनसारजी शास्त्र छपेंगे।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : भानुभाई मूलजीभाई लाखाणी 卐

अक्टूबर : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, आश्विन, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : ६

❋ भवदुःख से छूटने का उपाय ❋

हे भाई! यदि तुझे अनंत काल के परिभ्रमण का अंत करना हो.... और आत्मा की अतीन्द्रिय शांति का अनुभव करना हो, तो यहाँ संत उसकी रीति बतलाते हैं।

पूर्वकाल में जीव ने कभी एक क्षण भी आत्मज्ञान नहीं किया। आत्मज्ञान अपूर्व वस्तु है; वह आत्मज्ञान किये बिना कभी किसी का कल्याण नहीं होता। आत्मज्ञान के बिना जीव भले ही शुभराग करे और पुण्यबंध करके स्वर्ग में जाये, किंतु उससे भवभ्रमण के दुःख का अंत नहीं आता। यह तो अनादिकालीन भवभ्रमण के दुःख का अंत कैसे आये और अपूर्व आत्मसुख की प्राप्ति कैसे हो, उसकी बात है। अरे जीव! अनंत काल में दुर्लभ ऐसा यह मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ और सत्समागम मिला; उस समय यदि आत्मा की दरकार करके सत् न समझा और आत्मज्ञान नहीं किया तो आयु पूर्ण होने पर मनुष्य अवतार को हार जायेगा। इसलिये हे भाई! यह अवसर प्रमाद में गँवाने जैसा नहीं है। इस मनुष्य भव में जन्म लेकर अपने सच्चे आत्मस्वरूप की पहिचान करना; उसकी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की आराधना द्वारा भवभ्रमण का नाश करना, तथा अपूर्व मोक्ष-सुख प्रगट करना-यह जीवन का ध्येय है।

मोक्षदशा का वास्तविक सुख कहीं बाहर से नहीं आता, किंतु आत्मा के स्वभाव में ही वह सुख भरा है, उसी में से प्रगट होता है; किंतु अज्ञानी को बाह्यदृष्टि के कारण वह सुख अनुभव में नहीं आता; सुख के बदले उसे दुःख का अनुभव होता है, और वही संसार है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

'उपजे मोह विकल्प से समस्त आ संसार,
अंतर्मुख अवलोकतां विलय थतां नहिं वार।'

अंतर की स्वभावशक्ति को भूलकर 'बाह्य में सुख है'—ऐसी कल्पनारूप जो मोह, वही संसार का मूल है, वही दु:ख का घर है... अंतर में चैतन्यशक्ति आनन्द से परिपूर्ण है; उसमें अंतर्मुख होकर अवलोकन करे तो क्षणमात्र में अनादिकालीन मोह का नाश हो जाये तथा अपूर्व सुख का अनुभव हो।

'कोटि वर्षनुं स्वप्न पण जागृत थतां शमाय,
तेम विभाव अनादिनो ज्ञान थतां दूर जाय।'

निद्रा अवस्था में स्वप्न आने पर करोड़ों वर्ष पहले की बात देखता है। महल आदि देखता है; किंतु आँख खुली कि सब अदृश्य हो जाता है; उसीप्रकार अज्ञानदशारूपी निद्रा में मिथ्याकल्पना से पर में सुख-दु:ख मानकर अनादि से विभाव किये हैं, किंतु जहाँ आत्मा का सम्यक्भान किया, वहाँ वे विभाव छूट जाने में देर नहीं लगती। इसलिये संत कहते हैं कि अरे जीव! एक बार तो अपनी चैतन्यशक्ति को संभाल! एक बार तो अपने आत्मा की ओर दृष्टि डाल! जिसप्रकार विशाल सागर उछल रहा हो, किंतु देखनेवाला आँख बंद कर ले तो कैसे दिखाई देगा? समुद्र तो सामने ही भरा पड़ा है, किंतु आँखें खोलकर देखे, तभी दिखाई देगा न? उसीप्रकार आत्मा स्वयं ही ज्ञान-आनन्द से भरपूर विशाल चैतन्य-समुद्र है; किंतु शरीर, सो मैं, और राग जितना ही मेरा स्वरूप है—ऐसी भ्रमणा के कारण अज्ञानी उस चैतन्य समुद्र को नहीं देखता। यदि ज्ञानचक्षु खोलकर अंतर में देखे तो भगवान आत्मा, देह से तथा राग से पार, ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण चैतन्य समुद्र उछल रहा है—वह दिखाई दे। अपनी चैतन्यशक्ति का अवलम्बन लिये बिना भव दु:ख से छूटने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

हे भाई! यदि तुझे अनंत काल के इस परिभ्रमण का अंत करना हो... और आत्मा की अतीन्द्रिय शांति का अनुभव करना हो तो उसकी यह रीति है कि सत्समागम से बारम्बार आत्मा का श्रवण-मनन करके, अंतरंग रुचि से उसका निर्णय कर, उसकी परम महिमा लक्ष में ले... उसी की भावना भा! अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की तूने कभी संभाल नहीं की, इसलिये तुझे कठिन मालूम होता है; किंतु यदि सत्समागम से उसका यथार्थत: प्रयत्न करे तो आत्मा की अपूर्व पहिचान हुए बिना न रहे। अपने स्वभाव की प्राप्ति करना तो सुगम है।

आत्मा के स्वभाव का बारम्बार श्रवण-मनन करना, उसमें कहीं पुनरुक्ति दोष नहीं है। जिसे जिसकी रुचि हो, वह उसकी बारम्बार भावना भाता है। 'भावना से भवन होता है' अर्थात् शुद्ध आत्मस्वभाव की बारम्बार भावना करने से भवन-परिणमन हो जाता है। इसलिये जब तक आत्मा की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव न हो, तब तक सत्समागम से बारम्बार प्रीतिपूर्वक उसका श्रवण-मनन और भावना करते ही रहना चाहिये। आत्मा की प्रभुता अपने में ही भरी है, किंतु स्वयं अपने स्वभाव-सन्मुख होकर उसकी दृष्टि नहीं करता, इसलिये भवभ्रमण होता है। यदि अंतर्दृष्टि करके आत्मा की प्रभुता का अवलोकन करे तो अल्पकाल में भवभ्रमण का नाश हो जाता है—यह भवभ्रमण के नाश की रीति है। *[—पूज्य गुरुदेव के विहारकाल के प्रवचनों से]*

गिरनारधाम में गुरुदेव का प्रवचन

['गिरनार यात्रा महोत्सव' के समय जूनागढ़ शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

इस गिरनार के सहस्राम्रवन में भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया था।—वह केवलज्ञान कहाँ से आया? चैतन्यशक्ति में जो सर्वज्ञता थी, वह प्रगट हुई।

जहाँ दोष होता है, वहीं गुण भरे हैं; जहाँ अल्पज्ञता है, वही स्वभाव में सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है। जहाँ दु:ख होता है, वहीं त्रिकाली सुखगुण विद्यमान है; जहाँ क्रोध होता है, वही त्रिकाली क्षमागुण भरा है;—इसप्रकार क्षणिक दोष और त्रिकाली गुण दोनों एक साथ वर्त रहे हैं। उनमें गुण स्वभाव को पहिचान कर उसका अवलम्बन करे तो दोष दूर हो जाये और गुणों की निर्दोषदशा प्रगट हो।

सुख और ज्ञान कहाँ से आयेगा?

अनादिकाल से संसार में भटकता हुआ आत्मा मुक्त होना चाहता है—सुखी होना चाहता है—त्रिकालवेत्ता सर्वज्ञ होना चाहता है; तो वह सर्वज्ञता कहाँ से आयेगी? शरीर में से सर्वज्ञता नहीं

आयेगी; क्योंकि वह तो जड़ है। राग में से अथवा अल्पज्ञदशा में से भी सर्वज्ञता नहीं आयेगी। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है, स्वभाव में परिपूर्ण सुख एवं सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है; उसी में से सुख तथा सर्वज्ञता प्रगट होती है। इसलिये आत्मा के स्वभाव-सामर्थ्य की पहिचान करके उसका अवलम्बन करना, वह हित का उपाय है।

जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे क्या करना चाहिये ?—यह बात चल रही है। पहले ऐसा निर्णय करना चाहिये कि संयोगी वस्तुएँ मुझसे पृथक् हैं, उनमें मेरे हित का उपाय नहीं है और अंतर में परलक्ष से पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्तियाँ होती हैं, उनमें भी मेरा हित नहीं है। अंतर में मेरे ज्ञानस्वभाव में ही मेरा सुख है; उस स्वभाव का अवलम्बन लेने में ही हित है। पर में सुख मानकर अभी तक मैं भटका और अपना अहित किया; पर में मेरा सुख नहीं है। मेरा चैतन्य द्रव्य ही सुख -स्वभाव से भरपूर है। वर्तमान क्षणिक पर्याय में अल्पज्ञता और विकार है, किंतु मेरे द्रव्यस्वभाव में उस विकार का अभाव है; परिपूर्ण केवलज्ञान होने की शक्ति वर्तमान में भी मेरे द्रव्यस्वभाव में विद्यमान है।—इसप्रकार शुद्ध द्रव्यस्वभावोन्मुख होकर आत्मा के स्वरूप को समझना ही प्रथम करनेयोग्य कर्तव्य है। वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है। अज्ञानी, जड़ की क्रिया को देखता है, किंतु वस्तु स्वरूप की सच्ची समझ करके अनादिकालीन अज्ञान को दूर करना तथा अभिप्राय में से तीन काल के परिग्रह की ममता छूट जाना, वह अपूर्व धर्म क्रिया है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। एक समय का सम्यग्दर्शन होने से अनंत भव का नाश हो जाता है;—ऐसे सम्यग्दर्शन की महिमा की अज्ञानी को खबर नहीं है; उसे आत्मा के तत्त्व का भाव नहीं है।

भगवान आत्मा स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसकी न तो कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश ही होता है; वह तो त्रिकाल है... है... और है। वस्तुरूप से नित्य स्थायी रहकर उसमें एक अवस्था बदलकर दूसरी होती है। आत्मा के स्वभाव में ज्ञान और आनन्द की परिपूर्ण शक्ति विद्यमान है, उसका कभी नाश नहीं होता। जिसप्रकार चने के स्वभाव में मिठास की शक्ति है; कचास के कारण वह तूरा मालूम होता है; किंतु सेकने से उसके स्वभाव का मीठा स्वाद प्रगट हो जाता है; उसीप्रकार आत्मा में मिठास अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द शक्तिरूप से भरा है, किंतु उस शक्ति को भूलकर 'रागादि, सो मैं'—ऐसी अज्ञानरूपी कचास के कारण उसे अपने आनन्द का अनुभव नहीं है, किंतु आकुलता का अनुभव है। स्वरूपसन्मुख होकर उसमें तन्मय होते ही स्वभाव का अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है।

किसके आधार से कल्याण है ?

जिसे अपना कल्याण करना हो, उसे यह निर्णय करना चाहिये कि मेरा कल्याण किसके आधार पर है ? शरीरादिक तो जड़ हैं, उन के आधार से जीव का कल्याण नहीं है; देव-गुरु पर हैं, उनके आधार से भी कल्याण नहीं है; अंतर में शुभवृत्ति उठती है, वह विकार है, उसके आधार से भी कल्याण नहीं है। वर्तमान पर्याय में ज्ञान का विकास है, उतना ही अपने को माने तो उसके आधार से भी कल्याण नहीं है। पर से भिन्न, विकार से भिन्न, अंतर में परिपूर्ण चिदानंदस्वभाव है, उसी को उपादेय जानकर—मानकर ज्ञान को उसमें एकाग्र करने से अपूर्व आत्मकल्याण होता है।

आत्मा की प्रभुता का सामर्थ्य

अपना शुद्ध उपयोगस्वरूप ध्रुव आत्मा ही मुझे उपादेय है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मुझे उपादेय नहीं है। मेरे ध्रुव आत्मा में ही मेरी प्रभुता भरी है; अन्य किसी के आधार बिना मेरा आत्मा स्वयं ही अपना कल्याण करे, ऐसी मेरी प्रभुता है—इसप्रकार अपनी प्रभुता को पहिचानकर उसका आदर करना, वह प्रथम धर्म है। जिसने आत्मा की प्रभुता की प्रतीति की, उसने प्रभुता की ओर कदम बढ़ाया है; उसे मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो गया।

देखो, यह आत्मा की प्रभुता! कोई दूसरा मुझे तार देगा - ऐसा जो मानता है, वह अपनी प्रभुता को नहीं मानता किंतु स्वयं को पराधीन मानता है, वह संसार का कारण है। भाई! तेरी प्रभुता तुझ में है, तेरा काम कोई दूसरा कर दे या दूसरे का काम तू कर दे—ऐसी पराधीनता नहीं है। कोई कहे कि—यदि आत्मा में प्रभुता है तो वह दूसरों के कार्य क्यों नहीं कर सकता ? तो कहते हैं कि—आत्मा की प्रभुता आत्मा में काम आती है किंतु पर में काम नहीं आती। अपने स्वभाव में एकाग्र होकर एक क्षण में केवलज्ञान प्राप्त करे—ऐसी उसकी प्रभुता की शक्ति है; किंतु पर में एक रजकण को भी बदल सके, ऐसी शक्ति किसी आत्मा में नहीं है। आत्मा की प्रभुता की ऐसी पहिचान करना, वह अपूर्व धर्म है। मनुष्य भव पाकर जिसे अपना कल्याण करना हो, उसे यही करने योग्य है। पूर्व अनंत काल में कभी जो दशा प्राप्त नहीं कर सका, वह अपूर्व दशा जीव सच्ची समझ होने पर प्राप्त करता है। इस सच्ची समझ के बिना अन्य जितने उपाय करता है, वे सब मिथ्या हैं; उनमें आत्मा का किंचित् हित नहीं है।

आत्मा के परिणाम और जड़ की क्रिया—दोनों की स्वतंत्रता

अपने अतिरिक्त शरीरादि पर की क्रिया आत्मा के आधीन नहीं है; शरीर की एक उँगली का

हिलाना भी जीव के आधीन नहीं है; अज्ञानी व्यर्थ ही उसमें कर्तृत्व मानकर मिथ्याबुद्धि से संसार में भटकता है। संसार कोई बाहरी वस्तु नहीं है किंतु जीव का मिथ्या भाव ही संसार है और वह जीव की पर्याय में रहता है।

आत्मा के परिणाम और जड़ की क्रिया—यह दोनों बिल्कुल स्वतंत्र वस्तुएँ हैं। मृत्यु के समय किसी जीव को ऐसा विचार आये कि अरे रे! मैंने जीवन भर पाप करके धन इकट्ठा किया, तो अब उसका दानादि में उपयोग करूँ!—ऐसी इच्छा हुई और लड़के से कहने का मन भी हुआ; किंतु भाषा नहीं निकली, और बाह्य में दान की क्रिया नहीं हुई—तो उससे कहीं उस जीव की शुभवृत्ति का फल नहीं जा सकता। यद्यपि शुभभाव कहीं धर्म नहीं है; किंतु यहाँ तो बतलाना है कि जीव को शुभभाव होने पर भी वैसी भाषा नहीं निकली और न बाह्य में दान की क्रिया हुई; इसलिये बाह्य क्रिया का होना आत्मा के हाथ की नहीं है और आत्मा के परिणाम बाह्य क्रिया के आधीन नहीं हैं; किंतु दोनों स्वतंत्र हैं।

जड़ की क्रिया, विकारी क्रिया, धर्म की क्रिया

अब, जीव अपनी पर्याय में जो शुभ-अशुभभाव करता है, उनसे भी ज्ञायकस्वभाव पृथक् है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव है, वह क्षणिक विकारी वृत्तिरूप नहीं हो जाता।—इसप्रकार जड़ से भिन्न और विकार से भी भिन्न अपने चिदानन्द शुद्ध स्वरूप को दृष्टि में लेना, वह अपूर्व धर्म है। मनुष्य भव पाकर जिसे आत्मकल्याण करना हो, उसे अपने शुद्धस्वरूप को ही ध्येय बनाना चाहिये।

- जीव ने शुभभाव किया, इसलिये बाह्य में दानादि की क्रिया हुई—ऐसा नहीं है।
- बाह्य में दानादि की क्रिया हुई, इसलिये जीव को शुभभाव हुआ—ऐसा भी नहीं है;
- जीव को शुभभाव हुआ, इसलिये धर्म हुआ—ऐसा भी नहीं है।

बाह्य क्रिया भिन्न वस्तु है, शुभभाव भिन्न वस्तु है और धर्म भिन्न वस्तु है;—तीनों भिन्न-भिन्न हैं; किसी के कारण कोई नहीं है। बाह्य में पैसादि का आना-जाना, वह जड़ की क्रिया है; शुभभावों का होना, वह जीव की विकारी क्रिया है और उन दोनों से पार अंतर के चिदानंदस्वभावी आत्मा को समझकर उसमें एकाग्रता करना, वह अपूर्व धर्म की क्रिया है। वह धर्म पूर्व प्रारब्ध से (—पुण्य कर्म के उदय के कारण) नहीं होता किंतु अंतर के वर्तमान प्रयत्न से होता है। जिसप्रकार पैसादि बिना प्रयत्न के पूर्व प्रारब्ध से मिल जाते हैं, उसीप्रकार धर्म नहीं मिल जाता; धर्म तो वर्तमान में आत्मा के अपूर्व प्रयत्न से ही होता है।

संयोग से गुण-दोष नहीं है

बाह्य संयोग—वियोग तो पूर्व प्रारब्ध के कारण होते हैं; उनसे कहीं जीव को गुण या दोष नहीं है।

- निर्धनता, वह दोष नहीं है;
- सधनता, वह गुण नहीं है;
- रोग, वह अवगुण नहीं है;
- निरोगता, वह गुण नहीं है;
- अप्रतिष्ठा, वह दोष नहीं है;
- प्रतिष्ठा, वह गुण नहीं है।

पूर्व प्रारब्ध के कारण धर्मात्मा को भी कभी-कभी प्रतिकूल संयोग आ जाते हैं, और वर्तमान में कोई जीव पापी हो, तथापि उसे अनुकूल संयोग होते हैं; इसलिये संयोगों से आत्मा को गुण या दोष नहीं है; किंतु असंयोगी चैतन्यतत्त्व को चूककर संयोगों में ठीक-अठीकपने की मान्यता करना, वह दोष है और असंयोगी चिदानंदस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्रता करना, वह गुण है। भगवान! अपने तत्त्व को पर के साथ एकमेक मानकर पर से अपने गुण-दोष मान बैठा है, उस विपरीत मान्यता से अब विमुख हो और पर से पृथक् अपने चिदानंद तत्त्व की पहिचान कर।

आत्मिक स्वराज्य

अनादिकाल से विपरीत अभिप्राय का मंथन किया है और आत्मा की यथार्थ समझ कभी नहीं की, इसलिये सत्य को समझना कठिन मालूम होता है; किंतु सच्ची समझ के बिना कभी कल्याण नहीं हो सकेगा। यदि आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता और स्वराज्य चाहिये हो; तथा भवभ्रमण के दु:ख से छूटना हो तो यह बात समझना ही पड़ेगी। 'स्व-राज्य' अर्थात् आत्मा की शोभा; जिसमें आत्मा अपनी प्रभुता से शोभायमान हो, उसका नाम सच्चा स्वराज्य है। संयोग से आत्मा की शोभा नहीं है। पर में सुख मानना अथवा पर से आत्मा की शोभा मानना, वह तो महान पराधीनता है। चिदानंदस्वभाव में ही मेरा सुख है—ऐसी स्वाश्रयबुद्धि करना और पराश्रयबुद्धि छोड़ना, वह सच्चा स्व—राज्य है, और उसमें अपनी स्वतंत्रता प्रभुता से आत्मा शोभायमान है।

आनन्द के निधान अंतर में ही हैं

श्रीमद् राजचंद्रजी छोटी उम्र में कहते हैं कि—

'सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेश अे लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो! राची रहो?'

—बाह्य इन्द्रिय विषयों में सुख मानने से अंतरंग स्वभाव का अतीन्द्रिय सुख चूक जाते हैं। बाह्य में मेरा सुख नहीं है, मेरा सुख तो मेरे अंतर् स्वभाव में ही है—ऐसा विश्वास करके अंतर के चिदानंद तत्त्व का मनन करो। एक बार ऐसी पहिचान करके आत्मा के परम सत्य की भनक तो उत्पन्न करो। चैतन्य तत्त्व की भनक के बिना बाह्य में सुख मानकर अनादि काल से जीव प्रतिक्षण भावमरण कर रहा है। यदि एक क्षण भी आत्मा का सत्य स्वरूप समझ ले तो भावमरण दूर हो जाये और अल्पकाल में मुक्ति हो! अहो! मेरी वस्तु तो अंतर के ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण है, आनन्द के निधान मुझमें ही भरे हैं, किंतु उन्हें चूककर अभी तक में बाह्य में भटकता रहा; तथापि मेरे चैतन्यनिधान ज्यों के त्यों परिपूर्ण हैं—इसप्रकार अंतर वस्तु का स्वीकार करना और उसकी महिमा करके स्वसन्मुख होना, वह अपूर्व आत्मकल्याण का मूल है।

जीवन का ध्येय

दोष दूर करके निर्दोषता प्रगट करना है तो उसका अर्थ यह हुआ कि दोष के समय भी जीव के मूलस्वभाव में निर्दोषता भरी है। यदि स्वभाव में निर्दोषता का सामर्थ्य न हो तो पर्याय में निर्दोषता आयेगी कहाँ से? दोष के समय उस दोष जितना ही आत्मा का स्वरूप नहीं है, किंतु दोष के अभावरूप पूर्ण द्रव्यस्वरूप है। उसीप्रकार अल्पज्ञता के समय उस अल्पज्ञता जितना ही आत्मा नहीं है किंतु द्रव्य में सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है। पर्याय में भले ही अल्पव्यक्त हो किंतु द्रव्य स्वभाव में परिपूर्ण सामर्थ्य है। इसलिये पर्यायबुद्धि छोड़कर परिपूर्ण द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करना, वह मनुष्य जीवन का ध्येय है। जिसे आत्मा की प्रतीति करना हो और हित करना हो, उसे ऐसे ध्येय को लक्ष में रखकर जीवन जीना चाहिये। भले ही अमुक हद तक रागादि होते हों, किंतु वह मेरा ध्येय नहीं है और न उसमें मेरा हित है—ऐसा समझना चाहिये।

जहाँ दोष होता है, वहीं गुण भरे हैं

पर से भिन्न और पुण्य—पापरहित निरूपाधिक चैतन्य तत्त्व को जीव ने कभी ध्येयरूप नहीं बनाया, और न उसकी रुचि की है; विकार की रुचि करके उसी को ध्येय बनाया है। क्षणिक

विकार के पीछे उसी समय शक्तिरूप से त्रिकाली निर्विकारस्वभाव आत्मा में विद्यमान है, किंतु जीव को अपने स्वरूप का विश्वास नहीं आता। लकड़ी को क्रोध नहीं होता और न उसमें क्षमागुण है; जीव की अवस्था में क्रोध होता है और उसके पीछे त्रिकाली क्षमागुण विद्यमान है। जहाँ गुण हो, वहाँ उसकी विकृति से दोष होता है। दोष क्षणिक है और गुण त्रिकाल है। जहाँ दोष होता है, वहाँ उस दोष के पीछे त्रिकाली निर्दोष गुण विद्यमान है। जैसे कि—जहाँ क्रोध है, वहीं त्रिकाली क्षमा गुण विद्यमान है; जहाँ दु:ख है, वहीं त्रिकाली सुखगुण विद्यमान है; जहाँ अल्पज्ञता है, वहीं स्वभाव में सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है।—इसप्रकार क्षणिक दोष और त्रिकाली गुण दोनों एक साथ ही वर्त रहे हैं, किंतु वहाँ गुणों को भूलकर अज्ञानी अपने को दोषों जितना ही मानता है; तो फिर दोष किसके अवलंबन से दूर हो? क्षणिक विकृति जितना मैं नहीं हूँ किंतु मैं तो त्रिकाली स्वभाव हूँ—ऐसा भान करके स्वभाव का अवलम्बन करे तो दोष दूर होकर गुणों की निर्दोषदशा प्रगट हो। उसका नाम धर्म है।

कर्म परिभ्रमण नहीं कराते और भगवान तारते नहीं हैं

आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण है और पर से शून्य है; कोई दूसरा उसे भटकानेवाला नहीं है और न कोई दूसरा तारनेवाला है। स्वभाव को भूलकर स्वयं भटकता है, और 'मैं अपने स्वभाव से ही परिपूर्ण हूँ'—ऐसी प्रतीति करके उसमें एकाग्र होना, वह तरने का उपाय है। कर्म मुझे परिभ्रमण कराते हैं और भगवान तारते हैं—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, किंतु भाई! कर्मों का तो तेरे आत्मा में अभाव है, तो वे तुझे कैसे परिभ्रमण करा सकते हैं? कर्मों ने तुझे नहीं भटकाया है किंतु तू अपनी ही भूल से भटका है और भगवान किसी को तारते नहीं हैं, यदि भगवान तारते हों तो अभी तक क्यों नहीं तारा? वास्तव में जो ऐसा मानता है कि भगवान मुझे तारते हैं, वह भगवान की असातना करता है; क्योंकि 'हे भगवान! अब तो तू मुझे तार!'—इसप्रकार यह अर्थ हुआ कि अभी तक तूने ही मुझे संसार में भटकाया है;—इसलिये उसने वास्तव में भगवान की स्तुति नहीं की, किंतु उनकी विराधना की है, निंदा की है। कर्म संसार में भटकाते हैं और भगवान मोक्ष देते हैं, इसलिये आत्मा को तो कुछ करना ही नहीं रहा; आत्मा तो कर्म और भगवान के बीच ही लटकता रहा!—किंतु ऐसा नहीं है। संसार और मोक्ष दोनों में आत्मा स्वतंत्र है; आत्मा स्वयं ही अपने संसार का या मोक्ष का कर्ता है, दूसरा कोई उसका कर्ता नहीं है। अपने स्वभाव को भूलकर, पर के साथ एकत्व की मान्यता से जीव ने स्वयं ही संसार खड़ा किया है, और पर से भिन्न अपने शुद्ध ज्ञानानंद

आत्मस्वभाव का यथार्थ श्रवण—मनन करके उसकी सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान तथा रमणता प्रगट करना, वह मोक्ष का उपाय है। प्रथम, सत्समागम से सत्य का श्रवण करके, उसे लक्ष में लेकर सत्य का पक्ष करना, वह धर्म के प्रारम्भ का उपाय है। इसलिये यह जो सत्य कहा जा रहा है, उसका लक्ष करके सत्य का पक्ष करो और असत्य का पक्ष छोड़ो!

नेमिनाथ भगवान ने क्या किया?—जीवन का सच्चा ध्येय क्या?

इस गिरनार के सहस्राम्रवन में भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया। वह केवलज्ञान कहाँ से आया? चैतन्य शक्ति में जो सर्वज्ञता थी, वही प्रगट हुई है। भगवान को चैतन्य शक्ति का भान तो पहले से ही था; फिर उस चैतन्य शक्ति में उग्र एकाग्रता द्वारा राग का नाश करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा में केवलज्ञान शक्ति भरी है, उस स्वभाव शक्ति का ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना, वह केवलज्ञान प्रगट करने की रीति है। इसलिये जिज्ञासु को भगवान जैसे अपने आत्मस्वभाव की पहिचान करना, वही प्रथम कर्तव्य है और वही धर्म के प्रारम्भ की अपूर्व क्रिया है। आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीति करके अपूर्व सम्यक्त्व प्रगट करना, वह जीवन का सच्चा ध्येय है। उसके बदले जीवन में सच्ची श्रद्धा भी नहीं की, आत्मा की समझ प्रतीति भी नहीं की, उसने वास्तव में यह मनुष्य भव पाकर कुछ नहीं किया।

'सौराष्ट्र में तीन कल्याणक प्राप्त वैराग्य मूर्ति श्री नेमिनाथ भगवान की जय हो'!

सम्यक्त्व की महिमा सूचक प्रश्नोत्तर

(१) **प्रश्न**—श्रावकों को क्या करना चाहिये?

उत्तर—हे श्रावकों! संसार के दुःखों का क्षय करने के लिये परम शुद्धसम्यक्त्व को धारण करके और उसे मेरुपर्वत समान निष्कंप रखकर उसी को ध्यान में ध्याते रहो! *(-मोक्षपाहुड़, गाथा ८६)*

(२) **प्रश्न**—सिद्धि काहे से होती है?

उत्तर—सम्यक्त्व से ही सिद्धि होती है।—अधिक क्या कहें! भूतकाल में जो महात्मा सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में होंगे, वह सब इस सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है—ऐसा जानो।

(-मोक्षपाहुड़, गाथा ८८)

सम्यग्दर्शन का उपाय

शुद्ध आत्मा का अनुभव करने का उपदेश

[श्री समयसार गाथा १३ पर सुरेन्द्रनगर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(वीर सं० २४८०, वैशाख कृष्णा १२)

श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि शुद्धनय से देखने पर अर्थात् आत्मा के एकाकार स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से वह शुद्धरूप से अनुभव में आता है और उसका नाम सम्यग्दर्शन है.... ऐसे अनुभव से ही अनादि-कालीन मिथ्यात्व का नाश होकर अपूर्व मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है; इसलिये शुद्धनय के अवलम्बन से ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिये—ऐसा संतों का उपदेश है।

इस गाथा में सम्यग्दर्शन का उपाय बतलाया है। अनादि कालीन मिथ्यात्व की क्रिया कैसे दूर हो और अपूर्व सम्यग्दर्शन की क्रिया कैसे हो, उसकी यह बात है। भाई! आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप है; वह देहादि के संयोग से पार और पुण्य-पाप की क्रिया से भी पार है। देह का तो क्षणिक नवीन संयोग हुआ है, वह छूट जायेगा; इसलिये देह से भिन्न आत्मा क्या वस्तु है, उसकी पहिचान कर ले। आत्मा की पहिचान करने के लिये उसके ज्ञान का बारम्बार मंथन करना चाहिये। पहाड़े सीखने के लिये उन्हें बारम्बार घोंटता है; उसीप्रकार अनंत काल में नहीं की हुई ऐसी आत्मा की समझ के लिये उसका सत्समागम से बारंबार श्रवण-मनन करना चाहिये। जगत में सर्वज्ञ भगवान ने नव तत्त्व देखे हैं; उनका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे बराबर पहिचानना चाहिये; नव तत्त्वों को जानकर ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा में एकाग्र होना और नव तत्त्वों के भेद का विकल्प भी छूट जाना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन की रीति है। भगवान आत्मा स्थिर चैतन्यतत्त्व है; उसके अवलम्बन से निर्विकल्प आनन्द का अनुभव हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

देखो, स्वच्छ दर्पण में आम और जामुन, सुवर्ण और कोयला अग्नि और बर्फ, मोर और कौआ तथा वस्त्र—ऐसी नौ वस्तुओं का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है; वहाँ बाहर की नौ वस्तुएँ तो दर्पण से पृथक् ही हैं; दर्पण में नौ प्रतिबिम्ब दिखाई देने से वह कहीं नौ प्रकार खण्ड-खण्डरूप नहीं हो गया है, किंतु अपनी एकरूप स्वच्छता स्वरूप ही है; उसके स्वच्छ स्वभाव का ही वह

परिणमन है।—ऐसी प्रतीति—पहिचान करे तो दर्पण के स्वभाव को जाना कहा जायेगा। उसीप्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ऐसे नव तत्त्व आत्मा के ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होते हैं, वहाँ ज्ञान में नव तत्त्व ज्ञात होने से ज्ञान कहीं नौ प्रकार का खण्ड-खण्डरूप नहीं हो गया है; किंतु एकरूप ज्ञान की स्वच्छ दशा का वैसा परिणमन है। नव तत्त्व को जानते हुए ज्ञान उन नव तत्त्वों के विकल्परूप परिणमित नहीं हो जाता, किंतु विकल्प से पृथक् रहता है। इसप्रकार नव तत्त्वों के भेद के विकल्प से भिन्न ऐसे ज्ञान को अंतरोन्मुख करके एकरूप भूतार्थ ज्ञानानन्द स्थिर स्वभाव को अनुभव में लेने का नाम सम्यग्दर्शन है, वह धर्म की प्रथम भूमिका है।

धर्मी जानता है कि मेरा आत्मा स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वरूप है। बाह्य पदार्थ ज्ञात होते हैं, वह मेरे स्व-पर प्रकाशक ज्ञान का ही सामर्थ्य है, उसी से ज्ञात होते हैं।

'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी'—मेरे ज्ञान की ही ऐसी स्व-पर प्रकाशक शक्ति है कि ज्ञानस्वभाव को जानते हुए नव तत्त्वों को भी जानती है। धर्मी जानता है कि पुण्यतत्त्व मेरे ज्ञान में ज्ञात होता है, किंतु पुण्य के साथ मेरा ज्ञान एकमेक नहीं हो गया है। पुण्य होता है, वह मेरी अवस्था की योग्यता है और वह मेरे ज्ञान का ज्ञेय है—इसप्रकार धर्मी, पुण्यतत्त्व को जानता है। कोई ऐसा माने कि मुझमें विकार होने की योग्यता अवस्था में भी नहीं है, किंतु जड़ कर्म मुझे विकार कराते हैं, निमित्तों के कारण मुझे पुण्य भाव होता है; तो उसने सचमुच पुण्यतत्त्व को नहीं जाना है और न पुण्य को जाननेवाले अपने ज्ञान सामर्थ्य की भी उसे खबर है। भाई! पुण्य और पाप—इन दोनों तत्त्वों का अस्तित्व भी तेरी अवस्था में है—ऐसा तू जान। आत्मा के शुद्ध स्वभाव में तो पुण्य-पाप होने की योग्यता नहीं है, किंतु क्षणिक अवस्था में जो पुण्य-पाप होते हैं, वे अपनी अवस्था की योग्यता से ही होते हैं—ऐसा जाने तो वह पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर ध्रुव स्थायी ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता करे, वह सम्यग्दर्शन की रीति है। ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर भी जीव को देव-गुरु-धर्म की भक्ति-बहुमान का भाव आये तथा पाप का भाव भी हो जाये, किंतु वहाँ धर्मी जानता है कि यह पुण्य-पाप दोनों तत्त्व क्षणिक हैं, मेरे ज्ञानानंदस्वरूप के साथ उनकी एकता नहीं हुई है; मैं तो स्थिर ज्ञान हूँ और यह पुण्य-पाप मेरा ज्ञेय है। ज्ञेय कैसा?—कि मेरी अवस्था की क्षणिक योग्यता है—ऐसा धर्मी जानता है; किंतु दूसरे ने मुझे यह विकार कराया है—ऐसा धर्मी नहीं मानते।

नव तत्त्वों के विकल्प धर्मी को भी आते हैं, किंतु वहाँ एकताबुद्धि नहीं है। उसमें देव-

गुरु-शास्त्र की भक्ति पूजा का शुभभाव भी आता है और उस समय भगवान या भगवान की वीतरागी प्रतिमा आदि निमित्तों पर लक्ष जाता है। भगवान की भक्ति का ऐसा शुभभाव तथा ऐसे निमित्त होते हैं, उन्हें यदि स्वीकार ही न करे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे पुण्यतत्त्व की खबर नहीं है और जो ऐसा मानता है कि यह शुभभाव करते-करते मुझे सम्यग्दर्शन हो जायेगा, तो उसे भी पुण्यतत्त्व अथवा संवरतत्त्व की खबर नहीं है; वह भी मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो कहते हैं कि नव तत्त्व के भेदों पर लक्ष रहे, तब तक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। नव तत्त्व के भेदों का अवलम्बन छोड़कर एकाकार स्थिर एक ज्ञानस्वरूप का ही अवलम्बन करके निर्विकल्प प्रतीति हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

अपनी अवस्था में क्षणिक पुण्य की वृत्ति हो, वह अपनी पर्याय की क्षणिक योग्यता है और उसमें निमित्तरूप से जड़ पुण्यकर्म का उदय है;—ऐसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध को धर्मी जानता है, किंतु इस क्षणिक निमित्त-नैमित्तिक संबंध जितना मेरा चैतन्यतत्त्व नहीं है; मेरा चैतन्यतत्त्व पुण्य-पाप से पार है—इसप्रकार धर्मी की दृष्टि अपने स्थिर ज्ञानस्वरूप पर पड़ी है; उस दृष्टि में नव तत्त्व के विकल्पों का अभाव है और एकाकार ज्ञानानंदस्वरूप का अनुभव है। इसप्रकार नव तत्त्वों में से एकाकार ज्ञानानंदस्वभाव का अनुभव करना-निर्विकल्प प्रतीति करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन का उपाय है और इसी उपाय से धर्म का प्रारम्भ होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि शुद्धनय से देखने पर अर्थात् आत्मा के एकाकार स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर वह शुद्धनय से अनुभव में आता है तथा उसका नाम सम्यग्दर्शन है। नव तत्त्वों के भेद के निकट रहकर अथवा विकल्प के निकट रहकर आत्मा की शुद्धता का अनुभव नहीं हो सकता, अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रतीति में अथवा ज्ञान में नहीं आता। भेद से दूर और अभेद के निकट होकर, विकल्प से दूर और ज्ञायकस्वभाव के निकट होकर अनुभव करने पर द्रव्य—पर्याय की एकतारूप शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। ऐसे अनुभव से ही अनादिकालीन मिथ्यात्व का नाश होकर अपूर्व मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। इसलिये शुद्धनय के अवलम्बन से ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव करने का संतों का उपदेश है।

इस देह में रहनेवाला प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है; शुद्धचैतन्य और आनन्द उसका मूलस्वभाव है। अल्पज्ञता और विकार उसका मूलस्वरूप नहीं है; किंतु अपने मूलस्वरूप को

भूलकर विकार, सो मैं तथा पर के कार्य मुझसे होते हैं—ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण चार गति में परिभ्रमण करता है, संसार में परिभ्रमण करते हुए पुण्य करके अनंत बार स्वर्ग में गया, तथा पाप करके अनंत बार नरक में गया; तिर्यंच और मनुष्य में भी अनंत जन्म-मरण किये; किंतु मेरा ज्ञानानंदस्वरूप क्या है, उसका यथार्थ विचार एक सेकेण्ड भी कभी नहीं किया। आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर सम्यग्ज्ञान हो तथा परिभ्रमण दूर हो, उसकी यह बात है। आत्मा के शुद्धस्वरूप के अनुभव बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अनादि से आत्मा ने अपने को देहरूप तथा रागरूप अशुद्ध ही माना है और उसी का अनुभव किया है; किंतु देह से पार तथा राग से भी पार जो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे न तो कभी जाना है और न अनुभव किया है। क्षणिक पर्याय में अशुद्धता तथा संयोग होने पर भी आत्मा का स्वभाव उसरूप नहीं हो गया है; इसलिये यदि भूतार्थदृष्टि से आत्मा के स्वभाव को देखें तो आत्मा शुद्धस्वभावरूप दिखाई देता है—अनुभव में आता है; और आत्मा के शुद्धस्वभाव का अनुभव होने पर 'रागादि, सो मैं तथा देहादि, सो मैं'—ऐसी अनादिकालीन भ्रम बुद्धि दूर हो जाती है..... यह मोक्षमार्ग का प्रारम्भ है और फिर उस शुद्ध आत्मा के ही अनुभव से पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है तथा रागादि का अभाव होकर पूर्ण शुद्धदशारूप परमात्मपद प्रगट होता है। इसलिये भूतार्थ स्वभाव-सन्मुख होकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करो—ऐसा भगवान का उपदेश है।

भावशुद्धि का उपदेश

भावप्राभृत गाथा ६८ से ७१ के प्रवचनों से

सम्यग्दर्शन के बिना मात्र बाह्य नग्नता से ही जो अपने को मुनि मानता है, उसे सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! सम्यग्दर्शनादि जिनभावना के बिना मात्र बाह्य नग्नता से तुझे क्या लाभ? अंतर में राग की भावना विद्यमान है, वह मिथ्यात्व है तथा वही दु:ख का मूल है। धर्मी को तो यही भावना है कि मैं ज्ञानानंद शुद्ध आत्मा हूँ; राग होने पर भी सम्यक्त्वी को उसकी भावना नहीं है; उसे तो शुद्ध ज्ञानमूर्ति आत्मा की भावना है और उसी का नाम जिनभावना है। ऐसी जिनभावना ही रत्नत्रय का कारण है तथा वही मोक्षमार्ग है।—ऐसी जिनभावना के बिना बाह्य में नग्नता हो और पंच महाव्रत का पालन करता हो, तथापि उसे धर्म का किंचित् लाभ नहीं है; राग की भावना के कारण वह दु:ख ही प्राप्त करता है। शरीर का एक रजकण भी मेरा नहीं है, नग्नदशा का कर्ता मैं नहीं हूँ; और अंतर में शुभराग की वृत्ति उठे, उससे भी मेरे आत्मा को लाभ नहीं है; मैं तो देह से तथा राग से पार ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसा भेदज्ञान करके जो जिनभावना नहीं भाता किंतु राग की भावना भाता है, वह भले ही नग्न रहता हो, तथापि दु:ख ही प्राप्त करता है। शरीर की नग्नता कहीं सुख का या मोक्षमार्ग का कारण नहीं है। अंतर में शुद्ध आत्मा की भावनारूप जो जिनभावना है, वही भावलिंग है, और वह जिनभावना ही सुख का कारण तथा मोक्षमार्ग है। भावलिंगी दिगम्बर मुनि अंतर में ऐसी जिनभावना द्वारा ही सुखी हैं। मूढ़ जीव, राग की भावना करके उसे सुख का कारण या मोक्षमार्ग मानते हैं, किंतु वे मिथ्यादृष्टि हैं। वे महान राजपाट या रानियाँ छोड़कर भले ही त्यागी हुए हों, नग्न होकर पाँच महाव्रतों का पालन करते हों, किंतु आत्मा क्या वस्तु है, उसका भान नहीं है और राग करते-करते कल्याण हो जायेगा—ऐसी राग की भावना भा रहे हों तो वे प्राणी खेदखिन्न-दु:खी ही हैं। आत्मा शांति का सागर है, उसकी तो अंतर में दृष्टि नहीं है तो फिर सुख कहाँ से लायेगा? भावलिंगी दिगम्बर संत अंतर में चैतन्यपिण्ड आत्मा के अनुभव से सुखी हैं।

अब, जो अज्ञानी जीव मात्र बाह्य नग्नता से ही मुनिपना मानता है और अंतर में जिनभावना नहीं भाता—उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे मुनि! तू अंतर में चैतन्यस्वभाव के साथ आत्मा की एकता नहीं करता और राग की भावना भाता है; तथा अन्य संतों का दोष निकालता है—तो ऐसे

ईर्ष्याभाव से तेरा अहित ही होगा.... भाई! अंतर में गुणी के साथ एकता करके तूने गुण प्रगट नहीं किये तो अंतर में तू मात्र पर के दोष ही देखेगा... अपने स्वद्रव्य के साथ पर्याय की प्रतियोगिता (-तुलना) न की तो दूसरों के साथ प्रतियोगिता करके तू ईर्ष्या से दुःखी होगा। धर्मी तो अंतर्दृष्टि से पर्याय के द्रव्य के साथ एक करते हैं, इसलिये अपने में द्रव्य के आश्रय से पर्याय की शुद्धता करते हैं और दोष दूर होते जाते हैं। शुद्धस्वभाव की भावना के अतिरिक्त अवकाश ही कहाँ है कि किसी के दोष देखने में रुकें? अज्ञानी मूढ़ जीव को शुद्ध आत्मा की तो भावना नहीं है और बाह्य में दूसरों के दोष देखने में ही रुकता है... दूसरों की ईर्ष्या से अवकाश मिले, तभी अंतर में जिनभावना भायेगा न! चिदानंदस्वभाव की तो भावना नहीं है और न उसकी खबर है, तथापि बाह्य में नग्न होकर मुनिपना मना ले, तो उसमें धर्म की अप्रभावना होगी। क्योंकि अंतरंग भावना के बिना मुनि नाम धारण करके हास्य, ईर्ष्या, कषायादि भावों में प्रवर्तन करे तो उससे व्यवहार-धर्म की हँसी होती है। इसलिये यहाँ उपदेश है कि—भाई! अंतर में सम्यग्दर्शन प्रगट करके तू जिनभावना भा, भावशुद्धि कर, भावशुद्धि के बिना मात्र नग्नपना तो निरर्थक है; भावशुद्धि के बिना मुनिपना कभी नहीं होता।

हे आत्मा! तू अंतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध भावलिंग को धारण कर... अंतरंग में भाव दोष से रहित अत्यंत शुद्ध ऐसे जिनवर लिंग को धारण कर। ऐसे अंतरंग भावलिंगसहित निर्ग्रंथरूप द्रव्यलिंग को धारण कर। अंतर में भावलिंग के बिना तो द्रव्यलिंग भी बिगड़ जायेगा। इसलिये यहाँ अंतर में भावशुद्धि का प्रधान उपदेश है। भावशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव; वह भावशुद्धि ही मोक्ष का कारण है।

जो जीव अंतर में भावशुद्धि प्रगट नहीं करता, सम्यग्दर्शन या उत्तम क्षमादि धर्मों को धारण नहीं करता और नग्न होकर अपने को मुनि मानता है, वह वास्तव में मुनि नहीं है, किंतु नट-श्रमण है; अर्थात् नट की भाँति उसने मात्र नग्न भेष धारण किया है।—वह कैसा है?—तो कहते हैं कि अंतर में गुणरहित मात्र दोष का ही स्थान है। इक्षु के फूल की भाँति उसमें कोई गुण नहीं है। जिसप्रकार इक्षु के फूल में न तो सुगंध होती है और न उसमें कोई फल लगता है; उसीप्रकार अंतर में भावशुद्धि के बिना मात्र श्रमण के बाह्य वेश से वर्तमान में उसके कोई सुगंध अर्थात् शांति या गुण नहीं है और भविष्य में उसका कोई फल नहीं है अर्थात् वह कहीं मोक्षफल का कारण नहीं है। मोक्षफल देनेवाली तो जिनभावना है; इसलिये हे जीव! तेरा स्वरूप अमृत चिदानंदस्वरूप है—ऐसी जिनभावना भा!

सम्यग्दर्शनादि रहित नग्नता तो भाँड के वेष जैसी दिखाई देती है... अरे! भाँड भी शृंगार करके नाचे तो लोक में शोभा पाता है... किंतु सम्यग्दर्शनादि रहित मात्र नग्न वेश तो हास्य का स्थान है। इसलिये हे भाई! मात्र बाह्य नग्नता में मुनिपने की मान्यता को छोड़ और अंतर में चिदानंदस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करके जिनभावना भा।—इसके बिना मुनिपना नहीं होता। जिनशासन में सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भावों की प्रधानता है और उसे अंगीकार करने का प्रधान उपदेश है।

जैन साहित्य की प्रभावना के लिये योजना

श्री दिगम्बर जिनमंदिरों तथा स्वाध्याय मंदिरों को, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ की ओर से प्रकाशित सत्साहित्य, बम्बई के एक उदारचित्त सद्गृहस्थ की ओर से बिना मूल्य अथवा अर्धमूल्य में दिया जायेगा।

जिनको आवश्यकता हो, वे अपने-अपने शहर-गाँव के दिगम्बर जैन समाज के दो अग्रगण्य सभ्यों की सही द्वारा निम्न लिखे पते पर पत्र व्यवहार करें, साहित्य बिना मूल्य चाहिये या अर्धमूल्य में, वह भी लिखें। उपरोक्त योजना मंगसर सुद १५ तक चालू रहेगी, उस समय तक जिस जिस साहित्य की आवश्यकता हो तो मंगा लेवें, आवश्यकता हो तो यहाँ से प्रकाशित सत्साहित्य की सूची पोस्ट द्वारा मंगा लेवें।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

व्यवहारमूढ़ जीव की

मोक्ष उपाय संबंधी मिथ्या मान्यता के प्रकार

(—पूज्य गुरुदेव के भिन्न-भिन्न प्रवचनों से)

(१) पहले निश्चय नहीं, व्यवहार होना चाहिये—ऐसी व्यवहारमूढ़ जीवों की मान्यता है; परंतु ज्ञानी कहते हैं कि निश्चय के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। निश्चय के आश्रय से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। जो निश्चय के आश्रय का अस्वीकार करते हैं, वे धर्म का ही अस्वीकार करते हैं अर्थात् उनके आत्मा में धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। कुन्दकुन्द प्रभु का वचन है कि—'निश्चयनयाश्रित मुनिवर निर्वाण की प्राप्ति करते हैं।' निश्चयनय का आश्रय करनेवाले मुनिवर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(२) कोई कहे कि—पहले 'समयसार' का नहीं किंतु पहले 'महाबंध' का अध्ययन करना चाहिये; तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि—पहले शुद्धात्मा का नहीं किंतु कर्म प्रकृति का ज्ञान करना चाहिये; किंतु यह मान्यता तो व्यवहारमूढ़ता का ही एक प्रकार है। स्व को जाने बिना पर का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता; आत्मा के शुद्धस्वभाव को जाने बिना अशुद्धता का या कर्म बंधन का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। जो जीव, कर्म प्रकृति आदि को ही जानने में रुकता है किंतु शुद्ध आत्मा को नहीं जानता, वह जीव, कर्म बंधन से नहीं छूट सकता। शुद्ध आत्मा को जानकर उस ओर उन्मुख होना ही बंधन से छूटने का उपाय है। समयसार को आरम्भ करते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि—मैं आत्मा के निजवैभव द्वारा एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा बतलाता हूँ और तुम भी स्वानुभव द्वारा उस शुद्धात्मा को जानकर प्रमाण करना।—इसप्रकार शुद्ध आत्मा को जानने का ही उपदेश दिया है; किंतु ऐसा नहीं कहा कि मैं कर्मबंधन का वर्णन करता हूँ और तुम भी पहले उस कर्मबंधन को जानना—पहले शुद्ध आत्मा को न जानना। कोई शुद्धात्मा को जानने का उद्यम तो न करें और कर्मादि का ज्ञान करने पर जोर दे, उसे आत्मार्थी कैसे कहा जायेगा? जो आत्मार्थी हो—आत्मा की जिज्ञासा रखता हो, वह तो सर्वप्रकार से उद्यम द्वारा आत्मा को जानने का प्रयत्न करता है। मोक्ष-अधिकार में आचार्यदेव स्पष्ट कहते हैं कि—जो जीव, बंध का छेदन नहीं करता और मात्र बंध का स्वरूप जानकर ही संतुष्ट है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता। बंध के स्वरूप का ज्ञान कहीं मोक्ष का साधन नहीं है, किंतु अबंधस्वभावी ऐसा जो शुद्ध आत्मा तथा बंधन—इन दोनों को

भिन्न-भिन्न जानकर शुद्ध आत्मा की ओर ढलने से बंधन छूट जाता है। इसप्रकार शुद्ध आत्मा को जानकर उसे ग्रहण करना ही मोक्ष का उपाय है।

(३) कोई जीव ऐसा मानते हैं कि—'पहले अध्यात्म-उपदेश की आवश्यकता नहीं है, पहले तो व्यवहार का उपदेश देना चाहिये। प्रथम व्यवहारचारित्र अंगीकार कर लो, फिर सम्यग्दर्शन हो जायेगा।'—ऐसी मान्यता में भी व्यवहारमूढ़ता ही है। मोक्षमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शन का निरूपण मुख्यतः अध्यात्म उपदेश में ही है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग होता ही नहीं। सम्यग्दर्शनरहित व्यवहारचारित्र का पालन तो जीव ने अनंत बार किया, तथापि किंचित् कल्याण नहीं हुआ। सम्यग्दर्शनरहित चारित्र (-जिसे अज्ञानी व्यवहारचारित्र कहते हैं) तो मिथ्याचारित्र है; मिथ्याचारित्र का पालन करते-करते सम्यग्दर्शन कैसे होगा?—नहीं हो सकता। तथापि उस व्यवहारचारित्र को जो सम्यक्त्व का कारण मानता है, उसे उस व्यवहारचारित्र के शुभराग में मूढ़ता है; वह जीव शुभराग में ही मूर्च्छित हो गया है, राग से पार मोक्षमार्ग को वह नहीं साध सकता।

श्री टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में निम्नोक्तानुसार शंका-समाधान द्वारा इस विषय का अच्छा स्पष्टीकरण किया है—(पृष्ठ ४३० सस्ति ग्रन्थमाला देहलीवाला पुस्तक)—

शंका—द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म-उपदेश उत्कृष्ट है, और वह उसी को कार्यकारी है जो उच्च दशा को प्राप्त हो; किंतु निचली दशावालों को तो व्रत-संयमादि का ही उपदेश देना योग्य है।

समाधान—जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने से होता है और वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है; इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होता है और तत्पश्चात् चरणानुयोग अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होता है; इसप्रकार मुख्यतः तो द्रव्यानुयोग निचलीदशा में ही कार्यकारी है; तथा गौणरूप से, जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती दिखाई न दे, उसे प्रथम किन्हीं व्रतादि का उपदेश दिया जाता है। इसलिये, उच्च दशावालों को ही अध्यात्म उपदेश का अभ्यास करने योग्य है—ऐसा मानकर निचलीदशावालों को वहाँ से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है।

शंका—उच्च उपदेश का स्वरूप निचलीदशावालों को समझ में नहीं आता।

समाधान—वैसे तो तरह-तरह की चतुराई करना जानता है और यहाँ (अध्यात्म में) मूर्खता प्रगट करता है—यह ठीक नहीं। अभ्यास करने पर स्वरूप भलीभाँति समझ में आ जाता

और थोड़ा-बहुत अपनी बुद्धि अनुसार भी भासित होता है; परंतु सर्वथा निरुद्यमी होने की पुष्टि करना तो जिनमार्ग का द्वेषी होने जैसा है।

शंका—यह काल हलका (निकृष्ट) है; इसलिये उत्कृष्ट अध्यात्म के उपदेश की मुख्यता करना योग्य हनीं है।

समाधान—यह काल साक्षात् मोक्ष होने की अपेक्षा से निकृष्ट है, किंतु आत्मानुभवनादि द्वारा सम्यक्त्वादि होने का इस काल में अभाव नहीं है; इसलिये आत्मानुभवनादि के हेतु द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना चाहिये।

जिसे अध्यात्म का उपदेश अच्छा नहीं लगता और व्यवहार का उपदेश ही रुचता है, उस जीव को भी व्यवहारमूढ़ समझना चाहिये। अध्यात्म उपदेश में आत्मा का पर से भिन्न शुद्धस्वरूप बतलाकर उसका आश्रय कराया है; और इसप्रकार शुद्धस्वरूप का आश्रय करना ही कल्याण का मूल है, वही मोक्ष का मार्ग है। जिसे वह बात नहीं रुचती और व्रतादि के शुभराग की बात अच्छी लगती है, वह जीव व्यवहारमूढ़-मिथ्यादृष्टि है, मोक्ष के उपाय को वह नहीं जानता।

(४) कोई जीव ऐसा कहते हैं कि—'मोक्षमार्ग में पहले से ही निश्चय का आलम्बन करना कहते हैं, वह तो कठिन मालूम होता है, इसलिये पहले कुछ व्यवहार का आलम्बन बतलायें, उस व्यवहार का आलम्बन करते-करते कभी निश्चय प्रगट हो जायेगा।'—ऐसा कहनेवालों को भी व्यवहारमूढ़ ही समझना चाहिये। भाई! तू अनंत काल तक व्यवहार का अवलम्बन करे तो भी उससे निश्चय प्रगट नहीं हो सकता। मोक्ष का मार्ग शुद्धस्वभाव के आश्रित होता है या राग के आश्रित? व्यवहार के आश्रय से तो राग की उत्पत्ति होती है, फिर उसमें मोक्षमार्ग कहाँ से होगा?—नहीं हो सकता।

निश्चयरहित अकेले व्यवहार की बात तो दूर रही, किंतु निश्चय की भूमिकासहित बीच में जो व्यवहार का अवलम्बन आ पड़ता है, उसे भी हेय समझकर आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे, खेद है कि यह व्यवहार बीच में आ पड़ता है। उस व्यवहार के विकल्प को लाँघकर शुद्धनय से चिदानंदस्वरूप का अनुभवन करना ही मोक्षमार्ग है। बीच में जो व्यवहार का अवलम्बन आ पड़ता है, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। अहो, जहाँ निश्चय के साथ वर्तते हुए व्यवहार का अवलम्बन भी मोक्षमार्ग नहीं है, तो फिर निश्चयरहित अकेले व्यवहार का अवलम्बन तो मोक्षमार्ग कहाँ से होगा? ऐसे व्यवहार के अवलम्बन में अटका हुआ व्यवहारमूढ़ जीव, मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता। जो जीव उस व्यवहार को हेय समझकर शुद्ध आत्मस्वभाव को ग्रहण करता है—वही सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग को साधता है।

(५) अनेक जीव ऐसा मानते हैं कि हम जो व्रत-पूजादि शुभ क्रियाएँ कर रहे हैं, वे ही हमें करते रहना चाहिये, इसप्रकार शुभ करते-करते मोक्ष हो जायेगा, अथवा शुभ की परम्परा ही शुद्धता का कारण बन जायेगी।—ऐसी मान्यतावाले जीव भी व्यवहारमूढ़ता में फँसे हुए हैं। भाई, शुभ और शुद्ध दोनों की जाति ही भिन्न है—एक है राग और दूसरी है वीतरागता; एक बंध का कारण है और दूसरा मोक्ष का।—इसप्रकार शुभ और शुद्ध दोनों भावों की जाति ही एक-दूसरे से विरुद्ध है, तो फिर शुभ किसप्रकार शुद्ध का कारण होगा ?—किसीप्रकार नहीं हो सकता। फिर भी जो व्यवहारमूढ़ जीव शुभ को शुद्धता का कारण मानकर उस शुभक्रिया में ही धर्मबुद्धि से अटक रहे हैं, वे शुद्धभावरूप धर्म को अर्थात् मोक्षमार्ग को कभी प्राप्त नहीं हो सकते। मोक्षमार्ग के सच्चे स्वरूप की उन्हें खबर भी नहीं है। ऐसे जीवों को मोक्षमार्ग-साधन में किसप्रकार की भूल है, वह बात मोक्षमार्गप्रकाशक में बड़े अच्छे ढंग से समझाई है। वहाँ कहते हैं कि—

इस जीव को व्रत-शील-संयमादिक का अंगीकार होता है, उसे 'व्यवहार से यह भी मोक्षमार्ग का कारण है'—ऐसा मानकर वह उपादेय मानता है; किंतु वह तो जिसप्रकार पहले केवल व्यवहारावलम्बी जीव को अयथार्थपना कहा था, उसीप्रकार इसे भी अयथार्थपना ही जानना। ××××उस शुभोपयोग को बंध का ही कारण जानना किंतु मोक्ष का नहीं; क्योंकि बंध और मोक्ष में तो प्रतिपक्षीपना है; इसलिये एक ही भाव पुण्यबंध का भी कारण हो और मोक्ष का भी कारण हो—ऐसा मानना वह भ्रम है। व्रत-अव्रत दोनों विकल्पों से रहित जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग है, वही मोक्षमार्ग है। निचलीदशा में किन्हीं जीवों को शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की युक्तता होती है, इसलिये उस व्रतादि शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है किंतु वस्तुविचार से देखने पर शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है; इसप्रकार जो बंध का कारण है, वही मोक्ष का घातक है—ऐसा श्रद्धान करना। शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानकर उसका उपाय करना चाहिये तथा शुभोपयोग-अशुभोपयोग को हेय जानकर उसके त्याग का उपाय करना चाहिये।××××

कोई ऐसा मानते हैं कि—शुभोपयोग ही शुद्धोपयोग का कारण है। वहाँ, जिसप्रकार अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है, उसीप्रकार शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है—यदि ऐसा कारण-कार्यपना हो तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग सिद्ध हो; अथवा द्रव्यलिंगी को शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है, जबकि शुद्धोपयोग होता ही नहीं; इसलिये वास्तव में देखा जाये तो उन दोनों में कारणकार्यपना नहीं है। (- देखिये, दिल्ली मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३७६)

—इसप्रकार व्यवहारमूढ़ अज्ञानी जीव किसी न किसी प्रकार से मोक्ष उपाय संबंधी मिथ्या मान्यता का सेवन करते हैं; उनमें से कुछ प्रकारों का यहाँ वर्णन किया और साथ ही यह भी बतलाया कि यथार्थ मोक्षमार्ग साधने के लिये मुमुक्षु जीव को क्या करना चाहिये।

व्यवहारमूढ़ जीव, धर्मबुद्धि से शुभभाव का आचरण करके स्वर्ग में तो जायेगा किंतु साथ ही मिथ्या मान्यता के कारण उसे संसार भ्रमण बना ही रहेगा... और मिथ्यात्व की प्रबलता हो जाने से, अशुभभाव में जाकर अनेक प्रकार की निम्न गतियों में भी परिभ्रमण करेगा। इसलिये जो ऐसे दु:खमय संसार भ्रमण से छूटना चाहते हैं, ऐसे आत्मार्थी जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को समझकर, व्यवहार का अवलम्बन छोड़कर, शुद्धात्मस्वरूप का आश्रय करके मोक्षमार्ग की आराधना करें।—ऐसा आचार्यों-संतों का उपदेश है।

★

सर्वज्ञ की कृपा का फल मोक्ष

गत आषाढ़ कृष्णा तृतीया के प्रात:काल सीमंधर प्रभु के दर्शन करके गुरुदेव ने भावभीने चित्त से कहा था कि—' भगवान सर्वज्ञदेव की कृपा का फल मोक्ष है; और जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, उस पर भगवान सर्वज्ञ की कृपा है; सर्वज्ञ भगवान उसकी निकट मुक्ति देख रहे हैं, यही भगवान की कृपा है।'

अपने ज्ञान में जिसने सर्वज्ञ का निर्णय किया है और अंतर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव की सम्यक् प्रतीति-ज्ञान-रमणता प्रगट करके जो मोक्षमार्गी हुआ है, ऐसा धर्मात्मा, सर्वज्ञ के उपकार प्रसिद्धि करते हुए कहता है कि अहो परमात्मा! आपकी मेरे ऊपर कृपा हुई.... आपकी कृपा के प्रसाद से ही मैंने मोक्षमार्ग प्राप्त किया.... मोक्षरूप परमानन्द सचमुच आपकी कृपा का ही फल है।—ऐसा कौन कहता है ?—कि जिसने अपने हृदय में सर्वज्ञ को स्थापित करके ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा की है और अंतर्मुख होकर चिदानंद परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त कर ली है... वह विनय के अवसर पर उपकारी का उपकार प्रसिद्ध करते हुए कहता है कि—अहो नाथ! आप मुझ पर प्रसन्न हुए... आपके प्रसाद से ही मैंने परमानंद प्राप्त किया... आपकी कृपा से मैं मोक्षमार्ग में लग गया।—इसप्रकार साधक-संतों पर सर्वज्ञ की कृपा है।

विस्तारक्रम-प्रवाहक्रम और अनेकांत

(गतांक नं० १९६ से चालू)

१३- श्री पंचास्तिकाय की गाथा ५ में अस्तिकाय का स्वरूप बताया है, वहाँ मूल गाथा में 'पज्जयेहिं विविधेहिं' शब्द आया है, उसमें 'पर्याय' का अर्थ मात्र परिणमन नहीं किया परन्तु 'प्रवाह क्रम के तथा विस्तार क्रम का निर्विभाग अंश को 'पर्याय' कहा है। वहाँ टीका में कहा है कि 'प्रदेश नाम के उनके अवयव हैं, वे भी परस्पर व्यतिरेकवाले होने में 'पर्याय' कहलाती है। (सेठी ग्रंथमाला पंचास्तिकाय, पृष्ठ १३-२५)

१४- इसलिये 'पर्याय' कहने से विस्तारक्रम और प्रवाहक्रम दोनों आ जाते हैं।

इस विषय में श्री प्रवचनसार गाथा ९९ की टीका में कहा है कि जैसे द्रव्य का वास्तु समग्रतया (अखंडता से) एक होने पर भी विस्तार क्रम से प्रवर्तमान उसके जो सूक्ष्म अंश हैं, वे प्रदेश हैं; इसीप्रकार द्रव्य की वृत्ति समग्रतया एक होने पर भी प्रवाहक्रम में प्रवर्तमान उसके जो सूक्ष्म अंश हैं, वे परिणाम हैं। जैसे विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है; उसीप्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का परस्पर व्यतिरेक है [व्यतिरेक अर्थात् भेद; (एक दूसरे में अभाव) एक परिणाम दूसरे परिणामरूप नहीं है, इसलिये द्रव्य के प्रवाह में क्रम है।]

अनेकान्त सिद्धान्त

१- इस संबंध में अनेकांत सिद्धांत समझाने के लिये विशेष स्पष्टता की आवश्यकता है। हरेक कथन अस्ति-नास्ति से कहना अनेकांत है, वह सिद्धांत सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार समयसार में कहा है गाथा ३०८ से ३२२ अमृतचन्द्राचार्य टीका 'जीव है, अजीव नहीं, अजीव है, जीव नहीं' यह पद्धति यहाँ लगाना कि क्रमनियत है, अक्रम नियत नहीं,

२- अथवा सप्तभंगी लेने पर स्वरूप से अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के क्रमनियतता है, पररूप से क्रमनियतता नहीं है, शेष पाँच भंग भी लगा सकते हैं [देखिये पंचास्तिकाय गाथा २४ प्रवचनसार गाथा २२५ आप्तमीमांसा गाथा १५-१६]

३- उपरोक्त पाँच कारणों में अनेकांत लगाना हो तो 'क्रमनियत' एक और कालादि चार अन्यकारण (नियत धर्म अपेक्षा से) अनियत है। इसप्रकार नियत-अनियत कहा जाता है।

४- वस्तु में जो भाव विद्यमान हो, उसमें अनेकांत लागू पड़ता है, अविद्यमान में नहीं। जैसे

सिद्धभगवान वर्तमान में संपूर्ण सुखी है, किसी भी प्रकार वर्तमान में दु:खी नहीं है, (देखो, पंचाध्यायी भाषा २ गाथा ३३३ से ३३५ आपकी टीका का पृष्ठ २०३-२०४ गाथा ३३५ खास उपयोगी है) वस्तु का परिणमन नियत है और अनियत नहीं है, इस अनेकांतरूप नियम होने से कोई जीव पर्याय को अनियत स्थापन करे, अक्रम भी है, ऐसा निरुपण करे तो उसमें अनेकांत लागू न होकर मिथ्या अनेकांत हो जाता है।

५- छोटा गोम्मटसार गाथा ८८२ उसका हेडिंग पृष्ठ २७७ में है, वहाँ लिखा है कि 'आगे जिनमें सर्वथा एक नय ही ग्रहण पाया जाता है, ऐसे जो 'एकान्त मत हैं, उनके भेद को कहते हैं।'

६- वह एकान्तमत इसलिये है कि (अ) वे जीव सर्वज्ञ को, सात तत्त्व को, द्रव्य को पर्याय को मानते नहीं और पर्याय को स्वसन्मुख करना चाहिये, ऐसा भी मानते नहीं; इसलिये वे वास्तव में आत्मा को ही मानते नहीं (ब) जब वे नियति का ज्ञान करते हैं, उस समय युगपत वीर्यगुण की पुरुषार्थरूप उलटी वा सुलटी पर्याय होने पर भी वह मानते नहीं और जो एक गुण की पर्याय का भी निषेध करते हैं, वे साथ द्रव्य-गुण का भी निषेध करते हैं, इसलिये वे एकांति हैं। (क) एक साथ पाँच कारणों को भी मानते नहीं हैं।

७- जैन सिद्धांत में तो स्वभाव, पुरुषार्थ, काललब्धि भवितव्य (-नियत) और कर्म यह पाँचों कारण हैं और वह 'सर्वांगी शीवमार्ग' है ऐसा कहा है और वह पाँचों को सत्यार्थ माना कब कहा जाय? कि जब जीव अपनी पर्याय को स्वभाव सन्मुख करे तब। और उन्होंने पाँच कारण को सत्यरूप से माना है और उसे ही 'सर्वांगी शीवचाल' कहा है, ऐसी बात एकांत नियतिवालों के कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती।

८- स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर विचार—गाथा ३२१-२२ में 'उसमें लिखा है कि सर्वज्ञदेव ने जान्या है, ऐसे ही नियम करि होयगा' वह गाथा अनेकान्तमय है, उसमें निम्नप्रकार से अनेकांत सिद्ध होता है, (अ) जिसने सर्वज्ञदेव को माना उसे अपना असली स्वभाव सर्वज्ञ है, ऐसा स्वीकार किया और सर्वज्ञ को मान्य किया, ऐसा तब कहा जायेगा कि जब जीव ने अपना पुरुषार्थ स्वसन्मुख किया तब। इस बारे में प्रवचनसार गाथा ८० की टीका में अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेनाचार्य ने स्पष्ट कथन किया है। (ब) 'काल' और 'नियम' यह दो शब्द मूल गाथाओं में है तथा जन्म-मरण की बात है, वह कर्म का उदय की सूचक है। इसप्रकार उसमें पाँचों कारण आ जाते हैं, इसलिये उस विचार को सम्यग्दृष्टि के विचार कहे हैं। और यह सिद्धांत रत्नकरण्ड

श्रावकाचार (वीर संवत् २४६५ भीण्ड ब्रह्मचारी नन्दलाल-संपादित) गाथा १३७ टीका पण्डित सदासुखदासजी पृष्ठ ९४१ से ७९३ जहाँ दर्शन प्रतिमा का वर्णन है वहाँ लिखा है।

९- स्वामी कार्तिकेय का कथन सम्यक् अनेकांत का बतलाने का है और गोम्मटसार में एकांतवाद के स्वरूप की गाथा कही है, इसलिये उसमें मिथ्यात्वरूप एकांतवाद बताये हैं। और उसप्रकार मिथ्या एकांतवादी जीव तो नियत का बहाना लेकर सच्चा पुरुषार्थ तो नहीं करते किंतु स्वच्छन्दी होता है, इसलिये 'सम्यक् नियत' का भाव समझकर जो जीव सच्चा पुरुषार्थ द्वारा स्वसन्मुख होता है, उसे सम्यक् अनेकांत है।

टेप रिकार्ड रील द्वारा प्रचार

आत्मज्ञ सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी से यथार्थ तत्त्वज्ञान प्ररूपक आत्म स्पर्शी प्रवचनों को टेप रीलों में भरकर जिज्ञासु जीवों को पूज्य स्वामीजी की वाणी साक्षात् सुनने को मिले, इस हेतु से श्रीमान् सेठ नवनीतभाई जौहरी बम्बईवालों की ओर से श्री मधुकरजी मलकापुरवालों को इस कार्य के लिये नियुक्त किया गया है और उनके साथ हिन्दी व गुजराती भाषा में भरी हुई रीलें तथा उसकी मशीन है। (भक्ति-भजन और जैनदर्शन शिक्षणवर्ग भी चलाते हैं)।

जिस स्थान की जैन समाज सुनने की अभिलाषा रखती हों, वहाँ भेजा जाता है। तारीख १-६-६१ से अभी तक उनके द्वारा लाठी, पोरबंदर, गोंडल, खंडवा, भोपाल, उज्जैन, दाहोद, रतलाम, कोटा, रतनगढ़, सरदार शहर, हांसी, सागर, दमोह आदि स्थानों पर प्रवचन सुनाये गये हैं। प्रत्येक स्थानों से इस संबंध में बहुत प्रसन्नता व्यक्त करते हुए पत्र आ रहे हैं। तथा बहुत बड़ी संख्या में जिज्ञासुओं ने लाभ लिया है। कहीं-कहीं तो श्रोताओं की संख्या ६०० तक थी। अतः जो इस योजना का लाभ लेना चाहें, वे अपने यहाँ के मंडल, सभा या पंचायत की ओर से सोनगढ़ पत्र व्यवहार करें। माँग के अनुसार तथा सुविधानुसार भेजने की व्यवस्था की जायेगी।

सूचना—किसी को किसी प्रकार चंदा या भेंट देने का नहीं है। सिर्फ रास्ते से जिस गाँव से उस गाँव में आवे, वहाँ तक का रेल आदि का किराया तथा तीन रुपया व्यवस्था खर्च का और भोजन की सुविधा देना चाहिये। टेप रिकार्ड मशीन ए.सी. करन्ट से चलती है।

पत्र व्यवहार का पता:—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मोक्षार्थी जीवों पर अनुग्रह करके संत

शुद्धनय का अवलम्बन कराते हैं

(समयसार गाथा २७२ के प्रवचन से)

[वीर संवत् २४८६, कार्तिक कृष्णा-१०]

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥२७२॥

प्रश्न—आपने व्यवहारनय को हेय बतलाया किंतु मोक्षमार्ग में सम्यग्दृष्टि को भी व्यवहार होता तो अवश्य है ?

उत्तर—मोक्षमार्ग की साधना करते हुए सम्यग्दृष्टि को बीच में व्यवहार हो तो भले हो, किंतु उसे उसमें एकत्वबुद्धि नहीं होती, उस व्यवहार के आश्रय से मेरा कल्याण होगा, ऐसा वह नहीं मानता। शुद्धात्मा में ही एकत्वबुद्धि होने के कारण उसे शुद्धात्मा के आश्रय से निर्मल परिणामों की धारा सतत चलती रहती है और व्यवहार उससे पृथक् ही रहता है। इसलिये मोक्षमार्ग में व्यवहार साथ होने पर भी कहीं व्यवहार के आश्रित मोक्षमार्ग नहीं है। शरीरादि परद्रव्य भी मोक्षमार्ग में साथ वर्तत हैं, किंतु जिसप्रकार वे शरीरादि पदार्थ परद्रव्य हैं, उसीप्रकार मोक्षमार्ग की अपेक्षा (अथवा शुद्धात्मा की अपेक्षा) वह रागरूप व्यवहार भी परद्रव्य की भाँति भिन्न ही है; इसलिये परद्रव्य होने पर भी जिसप्रकार उसके आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के आश्रय से भी मोक्षमार्ग नहीं है। इसप्रकार परद्रव्य की भाँति ही पराश्रित व्यवहार को आत्मा के शुद्ध स्वभाव से भिन्न जाने बिना शुद्धात्मा के अनुभवरूप सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त है-पृथक् है। हे भाई! तू व्यवहार से पृथक् हो... और शुद्ध आत्मा में आ तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा। सम्यग्दर्शन के पश्चात् जो रागरूप व्यवहार आये, उसमें सम्यग्दृष्टि बँधता नहीं है, अर्थात् उसमें एकत्वबुद्धि नहीं करता, किंतु उससे पृथक् ही रहता है; इसलिये सम्यग्दृष्टि को व्यवहार से मुक्त (पृथक्) ही कहा है। जो व्यवहार में बँधता है—उसमें एकता करके अटकता है—वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—तो क्या व्यवहार है ही नहीं ?

उत्तर—व्यवहार है अवश्य, किंतु मोक्षमार्ग उसके आश्रित नहीं है। व्यवहाराश्रित मोक्षमार्ग

मानना तो परद्रव्य से लाभ मानने जैसा है। परद्रव्य है, इसलिये स्वद्रव्य है—ऐसी मान्यता में जिसप्रकार स्व-पर की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है; उसीप्रकार रागरूप व्यवहार है तो उसके कारण निश्चय है—ऐसी मान्यता में स्वभाव और परभाव की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है।

साधक को तो सुख के साथ किंचित दु:ख भी है; दोनों धाराएँ (एक कम तो दूसरी अधिक) साथ ही प्रवाहमान है; तो क्या दोनों साथ होने का अर्थ यह हुआ कि एक के कारण दूसरा है ? क्या दु:ख है, इसलिये सुख है ?—नहीं। जिसप्रकार वे दोनों साथ होने पर भी दु:ख के कारण सुख नहीं है; उसीप्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों साथ होने पर भी व्यवहार है, इसलिये निश्चय है-ऐसा नहीं है। व्यवहार के आश्रय से बंधन है और निश्चय के आश्रय से मुक्ति है;—इसप्रकार दोनों भिन्न-भिन्न रूप में वर्तते हैं।

व्यवहार है, इसलिये मोक्षमार्ग है—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहा जा सकता है कि व्यवहार का आश्रय होने से बंधन है। जिसके आश्रय से बंधन होता है, उसे मोक्ष का साधन मानना तो मोक्षमार्ग का घात करने समान है। जो जीव व्यवहार को मोक्ष का साधन मानकर उसका आश्रय करता है, उस जीव की पर्याय में मोक्षमार्ग का घात हो जाता है—उसके सम्यक्त्वादि नष्ट हो जाते हैं और वह जीव मिथ्यात्वादि से बँधता ही है—छूटता नहीं है। भाई, मुक्ति का मार्ग तो व्यवहार से न्यारा है; अंतर में अपने शुद्ध आत्मा के आश्रित ही तेरा मोक्षमार्ग है... तेरे चैतन्य में ऐसा अचिंत्य गुप्त चमत्कार है कि उसके सन्मुख होते ही बंधन के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और अबंधभाव मोक्षमार्ग प्रगट होता है; इसलिये हे मोक्षार्थी ! तू मोक्ष के लिये शुद्धनय का अवलम्बन लेकर शुद्धात्मा को ग्रहण कर—ऐसा संतों का करुणापूर्वक उपदेश है।

जिसे मोक्ष की ही अभिलाषा है, ऐसे मोक्षार्थी को बंधपरिणाम का उत्साह कैसे आयेगा ? मोक्षार्थी को तो शुद्धात्मा के ग्रहण का ही उत्साह है। बंधपरिणाम के उत्साही को शुद्धात्मा की रुचि ही नहीं है, इसलिये सचमुच वह मोक्षार्थी नहीं किंतु संसारार्थी ही है। अहा ! देखो तो सही यह वीतरागी संतों की वाणी ! एक ओर पूर्व चैतन्यदीप्ति से भरा हुआ ज्ञायक भंडार, और दूसरी ओर सर्व पराश्रित व्यवहार—दोनों का अत्यंत भेदज्ञान कराया है। दोनों की जाति भिन्न, दोनों के आश्रय भिन्न और दोनों के फल भी भिन्न।

❀ एक स्वभाव, दूसरा परभाव।

❀ एक का आश्रय स्व, दूसरे का पर।

❀ एक का फल मोक्ष, दूसरे का संसार।

दोनों की धारा सतत भिन्न-भिन्न ही प्रवाहित होती है, कभी एक नहीं होती।

जिसे मोक्ष का उत्साह है, उसे बंधन का उत्साह क्यों होगा? जिसे व्यवहार का उत्साह है, उसे परभाव का उत्साह है, उसे पराश्रय का उत्साह है, उसे संसारमार्ग का ही उत्साह है। आचार्यदेव उसे व्यवहार का आश्रय छुड़ाने के लिये उपदेश देते हैं कि अरे जीव! जिस व्यवहार के आश्रय से तू मोक्षमार्ग मानता है, उसका आश्रय तो अभव्य भी करता है;—यदि उस अभव्य की मुक्ति नहीं है तो तेरी कैसे होगी? इसलिये व्यवहार के आश्रय की बुद्धि छोड़ और शुद्धात्मस्वरूप निश्चय को जानकर उसी का आश्रय कर... उसके आश्रय से अवश्य तेरी मुक्ति होगी। शुद्धात्मा का आश्रय ले-लेकर अनंत मुनिवरों ने मोक्ष प्राप्त किया है, इसलिये तू भी शुद्धात्मा का ही आश्रय ले!

उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म

[भाद्रपद शुक्ला १४ (अनंत चतुर्दशी) के दिन पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

आज दशलक्षण धर्म का अंतिम दिवस उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म का है। यह धर्म सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होते। धर्म का मूल ही सम्यग्दर्शन है। उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म किसे कहते हैं-वह आचार्यदेव बतलाते हैं:—

सुकृति अर्थात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा; उसे ब्रह्मानंदस्वरूप आत्मा की प्रतीति हुई है और उसके सन्मुख परिणति की लीनता हुई है; वहाँ स्त्री आदि को देखने से उसे दुर्भावों की उत्पत्ति नहीं होती—ऐसी निर्मल परिणति का नाम ब्रह्मचर्यधर्म है। पवित्र आत्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा; जिसे चैतन्य के अतीन्द्रिय स्वाद के समक्ष जगत के विषय तुच्छ भासित होते हैं—ऐसा धर्मात्मा; वह स्त्री आदि के अंगों को देखकर विकृति को प्राप्त नहीं होता, उसे दुर्द्धर ऐसा ब्रह्मचर्य धर्म होता है। जिसे चैतन्य की प्रतीति न हो तथा परविषयों में जो सुख मानता हो, वह कदाचित् शुभराग द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करता हो तथापि, उसे ब्रह्मचर्य धर्म नहीं कहते। उसकी तो दृष्टि ही मैली है, वह

राग से धर्म मानता है; इसलिये उसमें पवित्रता नहीं है; और जिस आत्मा को पवित्रता नहीं है, उसे ब्रह्मचर्यादि कोई धर्म नहीं होता। इसलिये यहाँ 'पवित्र आत्मा'—ऐसा कहा है। जिसमें पवित्रता है, जिसके श्रद्धा-ज्ञान निर्मल हुए हैं, ऐसे धर्मात्मा को ही ब्रह्मचर्यादि वीतरागी धर्मों की आराधना होती है। सम्यग्दर्शन के बिना आराधना किसकी करेगा? जिसकी आराधना करना है, उसे प्रथम श्रद्धा-ज्ञान में ले, फिर उसमें स्थिरता करके उसकी आराधना करे। ऐसी आराधना में ही उत्तम क्षमा, ब्रह्मचर्यादि धर्म होते हैं।

आत्मार्थी जीव चैतन्य की साधना
अवश्य करता है

[आत्मार्थ की साधना के लिये आत्मार्थी जीव का उल्लास और विश्वास कैसा होता है—वह गुरुदेव ने यहाँ अद्भुत रीति से समझाया है।]

जिसे चैतन्य की साधना का उत्साह है, उसे चैतन्य के साधक धर्मात्मा को देखते ही उत्साह एवं उमंग आती है कि—अहा! यह धर्मात्मा कैसे चैतन्य की साधना कर रहे हैं! और उनकी आराधना का उत्साह जागृत होता है कि मैं भी इसप्रकार चैतन्य की साधना करूँ। चैतन्य की साधना में हेतुभूत ऐसे संत-गुरुओं को भी वह आत्मार्थी जीव सर्वप्रकार की सेवा से राजा की भाँति प्रसन्न करता है और संत-गुरु उस पर प्रसन्न होकर उसे आत्मप्राप्ति कराते हैं।

उस आत्मार्थी जीव के अंतर में एक पुरुषार्थ का ही मंथन होता है कि मैं किसप्रकार अपने आत्मा को साध लूँ?—किसप्रकार अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करूँ? आत्मा में सदैव ऐसी धुन वर्तने से जहाँ संत-गुरु ने उसके श्रद्धाज्ञानादि का उपाय बतलाया कि तुरंत उसके आत्मा में वह परिणमित हो जाता है। जिसप्रकार धन का अर्थी मनुष्य राजा को देखकर प्रसन्न हो उठता है और उसे विश्वास हो जाता है कि अब मुझे धन की प्राप्ति होगी और मेरी दरिद्रता दूर हो

जायेगी; उसीप्रकार आत्मा का अर्थी मुमुक्षु जीव आत्मप्राप्ति का उपाय दर्शानवाले संतों को देखते ही परम प्रसन्न होता है... उसका आत्मा उल्लसित हो उठता है कि—अहा! मुझे मेरे आत्मा की प्राप्ति करानेवाले संत मिल गये... अब मेरा संसार भ्रमण दूर होकर मुझे मोक्षसुख की प्राप्ति होगी। ऐसा उल्लास और विश्वास लाकर, फिर संत-धर्मात्मा जिसप्रकार कहें, तदनुसार चैतन्य की साधना करता है और सर्व उद्यम से चैतन्य को प्राप्त कर लेता है।

चैतन्य का आश्रय लेनेवाले संत ही जगत में परम सुखी हैं

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र में जो आनन्द है, वह तो आत्माश्रित होने से स्वाधीन है, उसमें किन्हीं विषयों का आलम्बन नहीं है। बाह्य विषयों के आश्रित जो इन्द्रिय सुख है, वह पराधीन है, उसमें विषयतृष्णा होने से दु:ख ही है। आत्मा के स्वाधीन-अतीन्द्रिय-विषयातीत सुख का अचिंत्य स्वाद सम्यग्दृष्टि के अनुभव में आ गया है; विषयों में सुखबुद्धिवाले मूढ़ जीवों को तो उस सुख की गंध भी नहीं है। सम्यक्त्वी को आत्मा के आश्रय से जो स्वाधीन सुख प्रगट हुआ है, वह ऐसा है कि जगत की चाहे जैसी प्रतिकूलता भी उसमें विघ्न-बाधा नहीं डाल सकती, तथा जगत के चाहे जैसे अनुकूल विषय (इन्द्राणिया चक्रवती का वैभव भी) उसे लालच में डालकर विषयों में सुखबुद्धि उत्पन्न नहीं करा सकते। चैतन्य के बाहर के विषयों में जिसकी गंध भी नहीं है - ऐसे परमसुख का जिन्होंने अनुभव किया हो, वे धर्मात्मा-ज्ञानी पर में सुख कैसे मान सकते हैं ?—नहीं मानेंगे। और पर में सुख नहीं मानते, इसलिये उनके अंतर में सारे जगत के प्रति वैराग्य है... उन्हें एक चैतन्य तत्त्व में ही परम रति-प्रीति है। इसप्रकार सम्यक्त्वी की परिणति सहजरूप से ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होती है, इसलिये कहा है कि 'सम्यग्दृष्टि को नियम से ज्ञान एवं वैराग्य की शक्ति होती ही है।' उसके ज्ञान-वैराग्य का सामर्थ्य ही अचिंत्य है!

ज्ञानकलां जिसके घट जागी, ते जग मांहि सहज वैरागी;
ज्ञानी मगन विषयसुख मांहि, यह विपरीत संभवै नांही।

जिसके अंतर में ज्ञानकला जागृत हो गई, वह जगत में सहज वैरागी होता है। जिसने चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद ले लिया है, ऐसा ज्ञानी विषयसुखों में लीन रहे—यह विपरीत बात कदापि संभव नहीं हो सकती; चैतन्यसुख का अनुभव करनेवाला ज्ञानी बाह्य विषयों में सुख माने, यह असंभव है। ज्ञानी को तो अपने चैतन्य से ही गाढ़ प्रीति है। जिसप्रकार इन्द्रियविषयों में सुख माननेवाले मूढ़ जीव उसके कारणरूप पुण्य का (शुभराग) अति गाढ़रूप से (एकत्वबुद्धि से) अवलम्बन लेते हैं; उसीप्रकार चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख को जाननेवाले ज्ञानी उस सुख के धाम ऐसे अपने चैतन्यतत्त्व का अति गाढ़रूप से (तन्मयरूप से) अवलम्बन लेते हैं। जितना चैतन्यतत्त्व का अवलम्बन, उतना ही सुख है; चैतन्य को जानकर उसका अवलम्बन लेनेवाले संत ही इस जगत में परम सुखी हैं... उन्हें नमस्कार हो!

(प्रवचनसार के प्रवचनों से)

नया प्रकाशन—

समयसारजी पद्यानुवाद मूल्य ०.२५

रंगीन लेजर पेपर पर सुन्दर बड़े टाइप में है स्वाध्याय के लिये बहुत मनोज्ञ प्रकाशन है।

उत्तम क्षमा धर्म

[भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी-पर्यूषण पर्व के प्रथम दिन-पूज्य स्वामीजी ने 'बारस्स-अनुप्रेक्षा' में से उत्तम क्षमा धर्म पर प्रवचन किया... यहाँ उसका सार दिया जा रहा है।]

आज दस लक्षण धर्म का प्रथम दिवस है। उत्तम क्षमादि जो दस धर्म हैं, वे सम्यक्त्वसहित चारित्र के भेद हैं। सम्यग्दर्शन के बिना तो उत्तम क्षमादि कोई भी धर्म नहीं होता। जिसे चैतन्य की प्रतीति नहीं है और शरीर में एकत्वबुद्धि है, उसे प्रतिकूलता आने पर क्रोध हुए बिना नहीं रहेगा, इसलिये उसे क्षमा नहीं होती।

आज उत्तम क्षमा धर्म का दिन है। चिदानंद तत्त्व की प्रतीतिपूर्वक उसमें एकाग्र होने पर जगत के बाह्य पदार्थों से राग-द्वेष छूट जाते हैं, इसलिये चाहे जैसे बाह्य प्रतिकूल संयोगों का समूह उपस्थित हो जाने पर भी क्रोध नहीं होता, वीतरागभाव बना रहता है, उसका नाम उत्तम क्षमा है। 'बारस-अनुप्रेक्षा' में उत्तम क्षमा धर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

क्रोध उत्पन्न होने का साक्षात् कारण मिलने पर भी जो किंचित् क्रोध नहीं करता, उसे उत्तमक्षमा धर्म होता है। शांत-अकषाय चिदानंदतत्त्व की जहाँ दृष्टि हुई तथा दृष्टि के साथ ही स्थिरता हुई, वहाँ धर्मात्मा मुनि चाहे जैसे बाह्य कारण अर्थात् प्रतिकूल संयोग उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं होने देते, उन्हें उत्तम क्षमा धर्म होता है। ऐसे धर्मों की आराधना के दिन आज प्रारम्भ हो रहे हैं और भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को समाप्त होंगे। यही सनातन जैनमार्ग में पर्यूषण है। धर्म की आराधना तो किन्ही भी दिनों में हो सकती है, किंतु यह दस दिन मुख्यतः पर्व के रूप में माने जाते हैं।—ऐसे धर्मों की आराधना करने के लिये प्रथम तो अनंत शक्ति सम्पन्न चैतन्यतत्त्व को जानना आवश्यक है।

सोनगढ़ समाचार

पूज्य गुरुदेव सुखशांति में विराजते हैं। समयसारजी शास्त्र गाथा ३८ से ६० तक सुन्दर प्रवचन हुए उनमें भी ३८ वीं गाथा में धर्मात्मा की अनुभूति का वर्णन तो अद्‌भुत था। अहा, वो गुरु उपदेश और उसे झेलनेवाला शिष्य और उस शिष्य की अनुभूति उसका वर्णन गुरुदेव के श्री मुख से सुनते हुए बहुत प्रमोद होता था। दोपहर में पद्मनंदी पंचविंशतिका में से श्रावकाचार के ऊपर अद्‌भुत प्रवचन हुये थे, उसमें नित्य प्रतिदिन करने योग्य श्रावकों के कर्तव्यों, देव-शास्त्र-गुरु की उपासना, धर्मात्मा-साधर्मी प्रति प्रमोद और वात्सल्य आदि वर्णन बहुत सुंदर था। हमेशा जिनमंदिर में भक्ति भी अद्‌भुत होती थी।

दसलक्षणी पूर्यषणपर्व में प्रवचनों की शुरु में तत्त्वार्थ राजवार्तिक में से दस धर्मों का विवेचन करते थे।

भादवा सुदी ४ श्री जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा उत्सव मनाया था, भादवा सुदी ५ शास्त्रजी की रथयात्रा की—हमेशा दसलक्षण मंगल का समूह पूजन बड़े ठाठ बाट से होता था। उत्तर भारत के जैनबन्धु इस समय अधिक संख्या में लाभ लेने के लिये आये थे।

इस साल सुगंध दशमी का उद्यापन का विशेष प्रसंग होने से करीब ३५ बहिनों ने दस साल पूर्व सुगंध दशमी का विधान शुरु किया था। वे इस साल पूर्ण होने से उत्साहपूर्वक उसका उद्यापन करने में आया था-उद्यापन के उपलक्ष में करीब दो हजार रुपये की सामग्री मूल्यवान वस्तुयें (पूजन के बर्तन-पुस्तक, शास्त्र आदि) जिनमंदिर में भेंट की, पूज्य श्री चंपाबहिन तथा पूज्य श्री शांताबहिन ने भी आराधनापूर्वक सुगंध दशमी विधान किया था, और उद्यापन निमित्त २५०) की मूल्यवान वस्तुयें जिनमंदिर में तथा स्वाध्याय मंदिर में अर्पण की थी, भादवा सुदी १५ श्री जिनेन्द्र रथयात्रा व वदी १ क्षमावाणी इसप्रकार इस साल विशेष आनन्द मंगलमय धर्म पर्व हुए और बाहरगाँव से मेहमानों की संख्या भी ज्यादा थी।

वर्तमान प्रवचन में समयसार शास्त्र गाथा ६५-६६ आदि तथा अष्टपाहुड़ शास्त्र में से मोक्षपाहुड़ गाथा १०४ आदि चालू हैं।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।